

हिन्दी उपन्यासों में महानगरीय बोध

राकेश रायपुरिया

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को जनता की चिन्तवृत्ति से जोड़ते हुए लिखा है—“प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चिन्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चिन्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ साथ साहित्य का स्वरूप भी बदलता है।”¹ यह साहित्यकार का दायित्व भी है कि समाज या परिवेश में जैसे-जैसे परिवर्तन होता है उसे अपनी लेखनी को मानव जीवन के विविध फलकों से जोड़े रखना चाहिए। चाहे ग्रामीण जीवन की विवशता हो या स्त्री की दुखभरी दास्तान, दलितों की बिलखती जिन्दगी हो या उनके संघर्ष की मूक आवाज शहरी जीवन की चकाचौंध। हो या महानगरीय जीवन की छटपटाहट उपन्यासकारों ने सबको देखा परखा है। डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव के शब्दों में— ‘उपन्यास एक सपने की अभिव्यक्ति है। आकांक्षा का संघर्ष है। भविष्य का चेहरा है। कुलमिलाकर अपने समय के प्रश्नों की प्रक्रिया के बीच जूझते व्यक्ति का जीवन है।’² कुछ ऐसा ही जीवन मेरे शोध-पत्र का विषय बना जो एकसाथ महानगरीय जीवन के विविध पहलुओं को रेखांकित करता है। आज महानगरीय प्राणी अपने आपको सबसे ज्यादा असहज महसूस करता है। एक ओर वह भौतिक सुख-सुविधाओं व चकाचौंध से खुश है लेकिन उसका अन्तः, अकेलापन, चिड़चिड़ापन, कुण्ठा, तनाव, संत्रास व असुरक्षा के भय से झटपटा रहा है। ज्यों-ज्यों नगरों में औद्योगिक इकाईयों का विकास हुआ लोगों का आजीविका की तलाश में शहरों में आते गये और इस तरह रोजगारोन्मुख झुकाव नगरों को महानगरों में बदलता गया। भी म साहनी कृत ‘बसन्ती’ उपन्यास का एक अंश देखिये “दिल्ली चले आओ बड़ा शहर है, रोजगार का जुगाड़ हो जाएगा चले आओ यहाँ काम की सचमुच कमी नहीं”³ और इस तरह लोग काम की तलाश में महानगरों में आते गये और यहीं के होके रह गये। ‘कलि कथा: वाया बाईपास’ का एक अंश देखिये जो महानगरों की भीड़भाड़ की ओर संकेत करता है— इतने सारे लोग मानो एक संग किसी तंग दरवाजे से निकल जाना चाहते हैं। सड़कों पर रिक्शेवालों फिटनों व मोटरों की भीड़ लगी है, बस ट्रामों में कहीं जगह नहीं”⁴ महानगरों में यातायात इतना सघन हो गया है कि धुंये के मारे सांस लेना मुश्किल हो रहा है—“कैसा गुन्धम-गुन्ध हुआ यातायात। चीटियों सद्दश रेंगाता, चाहे सामने देखो या अगल बगल में गाड़ियाँ ही गाड़ियाँ..... जलता हुआ डीजल, पेट्रोल धुआँ और बदबू, आँखों में दीर्घ रुदन पश्चात किरकिरी भरी जलन”⁵ खैर ये तो रही महानगरीय भीड़भाड़ का सच। मैं विषय को विस्तार देते हुए सबसे पहले स्वतंत्रता के बाद के उन उपन्यासों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहूँगा जिसमें इस परिवेश पर चर्चा की गयी है।

‘राकेश मोहन’ के ‘अन्धेरें बन्द कमरे में’ छठे दशक की दिल्ली की पृष्ठभूमि में कलाकारों, लेखकों और पत्रकारों की अन्दरूनी जिन्दगी का, उनके परिवेश के साथ समझौते के परिणामस्वरूप निराशा और कुंठा को उभारता है।⁶ कुछ ऐसी ही महानगरीय संवेदनशील दृष्टि हमें ‘शैलेष मटियानी’ के उपन्यासों में मिलती है जो 60 के आसपास लिखे गये थे। ‘बोरीवली से बोरी बन्दर तक’ ‘कबूतर खाना व किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई का’ जिनमें बम्बई की अपराध और संस्कृति विहीन नैतिक दृष्टि से गन्धाती जिन्दगी, विलास और व्याभिचार, नारी की अतृप्त और घुटन, महानगरीय जीवन के अन्तर्विरोध, महानगर में चलने वाला अत्याचार व शोषण, वेश्याओं के कोठों से लेकर आलीशान होटलों में चलने वाले देहव्यापार का प्रभावशाली अंकन हुआ है।⁷ यहाँ से चार पांच साल आगे बढ़े तो हमारी दृष्टि यकायक राजकमल चौधरी

के उपन्यास ‘मछली मरी हुई’ पर अवश्य ठहरेगी, क्योंकि, इसमें जिस सच को उठाया है वो कलकत्ता महानगर का प्रामाणिक चित्र को प्रस्तुत करता ही है। मुख्य विषय के रूप में समलैंगिक रिश्तों के प्रेम आचरण को एक मनोवैज्ञानिक सच्चाई के साथ चित्रित किया है। कुछ जिन्दगियाँ बेमतलब की’ में भूख बिमारी व तडफन के शिकार गरीब समाज का आइना है—‘भारत के बड़े नगरो में, ऐसे कुछ अनेक मनुष्य नामधारी प्राणी है जिनकी जिंदगी आवारा कुत्तों और कीड़े मकोड़ों से बेहतर नहीं। वे अनचाहे बच्चों के रूप में जन्म लेते हैं। लावारिस कुत्तों की तरह पलते हैं और एक दिन भूख टंड या रोग से मर जाते हैं।’⁸ कुछ ऐसा ही मार्मिक विवशता ‘जगदम्बा प्रसाद दीक्षित’ के उपन्यास ‘मुरदा घर’ में देखने को मिलती है जिसमें मुम्बई की झोपड़ पट्टियों में रहने वाली वेश्याओं व उनकी अनचाही सन्तानों के कारुणिक विकास को अंकित करती है, भूख का एक दृश्य देखिये जिसमें कचरा बीनने वाले बच्चे हैं— ‘अब सामने है जूठे पत्ते। पत्थर मारकर भगा रहे हैं कुत्तों को दौड़-दौड़कर दूढ़ रहे हैं, पत्ते चाट रहे हैं। दूढ़ते हैं चाटते हैं फिर दूढ़ते हैं। मगर खत्म नहीं होती जूठे पत्तों की तलाश’⁹ 80 दशक के पूर्वार्द्ध के उपन्यासों में हम ज्यों ही आगे बढ़ते हैं तो महानगरीय परिवेश एक सामूहिकता के साथ हमारे सामने आता है। सामाजिक जीवन हो या प्रशासन की स्वार्थपरता व्यक्ति का अकेलापन हो या विकास के नाम पर जकड़ती यांत्रिकता, संबंधों की कटुता हो या रागात्मक खटास, जीवन के इन विभिन्न पहलुओं से उपन्यास रूबरू हुआ। एक नया परिवेश, भौतिक चकाचौंध, सतरंगी यांत्रिक साधनों के ढेर ने मनु य को अधिक सुविधापरक जिन्दगी जीने की कला सिखायी किन्तु वह अपने नाजुक सम्बन्ध व संवेदनाओं से दूर हो गया। अपने सार्थक अस्तित्व को भूला वह इतना दूर निकल आता है कि उसे कुछ इस तरह से अकेलेपन का एहसास होता है—

**“पोटली दर्द की उठाए घूमता हूँ
अपने ही शहर में अपने को दूढ़ता हूँ”**

और जब यह अकेलापन बढ़ जाता है तो मानसिक तनाव तो बढ़ता ही है संत्रास, चिड़चिड़ापन, अजनबीपन, कुंठा और असुरक्षा का भय सताने लगता है। परिणामस्वरूप, डिप्रेशन जैसी आधुनिक बीमारी उसे अपने आगोश में ले लेती है। ‘छिन्नमस्ता’ की ‘प्रिया’ अपने पति से अलग रह आर्थिक सम्पन्नता तो प्राप्त कर लेती है लेकिन डिप्रेशन उसका पीछा नहीं छोड़ता। “यदि मैं व्यापार कर सकती हूँ, रुपये कमा सकती हूँ, तब अपने इस निहायत व्यक्तिगत मसले का हल क्यों नहीं दूढ़ सकती? इतना पढ़ने लिखने और मनोविज्ञान समझने के बावजूद आक्रामक औदास्य और डिप्रेशन मुझे घुन की तरह खाए जा रहे हैं”¹⁰ तो इधर ‘समय सरगम’ की अरण्या अपनी थकान मिटाने के लिए विटामिन की गोलियों का सहारा लेती है—“थकान हो रही है सुबह विटामिन लेना भूल गई।”¹¹ ये सत्य न केवल इन उपन्यासों के पात्रों का ही है बल्कि बड़े शहरों के आम व्यक्ति के जीवन का यथार्थ बनता जा रहा है। इस भागदौड़भरी जिन्दगी में व्यक्ति अपने लिए कुछ शुकुन भरे क्षण भी नहीं निकाल पाता, हद तो तब होती है जब नींद लेने के लिए उसे गोलियों का सहारा लेना पड़ता है। ‘भया कबीर उदास’ की नायिका अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए शराब का सहारा लेती है—“शराब उसने हाल ही में पीनी शुरू की थी। अपने शरीर के कम्पन और हृदय की धड़धड़ाहट पर काबू पाने के लिए उसने ब्रांडी लेना शुरू कर दिया”¹² इस अकेलेपन का ‘भय एक जमीं अपनी’ की अंकितता को किस कदर डराता है— “अपने अकेलेपन के साथ अकेला होना कितना

शोधार्थी, हिन्दी-विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डरावना है, और खौफनाक भी¹³ और यही अकेलापन 'छिन्नमस्ता' (प्रभा खेतान) की प्रिया की नींद का दुश्मन है—'मैं सोना चाह रही हूँ। हालांकि नींद से पलकें बोझिल हैं, पर बहुत चाहने पर भी मैं सो नहीं पा रही।'¹⁴ महानगरीय परिवेश की एक विसंगति जो मुझे सदैव कचौटती है—वह है मनुष्य का संवेदनशून्य होना। आज लोग इतने मतलबी होते जा रहे हैं केवल अपना ही सोच पाते हैं, राह चलते अगर कोई मनुष्य तड़फता मिल भी जाए या फिर किसी मुसीबत में फंसा दिख जाए, लोग बिना बात की आफत समझ आगे बढ़ने की सोचते हैं। 'बंसन्ती' उपन्यास का एक दृश्य देखिये "कोई नौजवान ट्रेन से गिर गया, देखते हुए भी लोगों ने चैन नहीं खींची।"¹⁵ तो इधर 'मुरदाघर' की बशीरन का पति रेल दुर्घटना में घायल हुआ, पानी के लिए तड़फता मर जाता है; पर रेलवे स्टेशन पर किसी का दिल नहीं पसीजा। "अभी जान था उसमें। पानी मांगता था बार-बार। कोई नहीं दिया। कौन देगा। मर गया तो अपना ऊपर आँगा आधा घंटा पड़ा रहा इधर। पीछू मर गया"¹⁶ आज बड़े शहरों में बुजुर्ग समाज सबसे ज्यादा त्रासद स्थिति में दिखलाई पड़ता है। वह अपने आपको सबसे ज्यादा असुरक्षित महसूस कर रहा है उसे डर किसी ओर का नहीं बल्कि, अपने ही बहु बेटों से है। कुछ ऐसी ही मार्मिक अभिव्यक्ति 'कृष्णा सोबती' के उपन्यास "समय सरगम" में मिलती है जिसमें मध्यवर्गीय व द्धजनों की बूढ़ी विवशताओं का चित्रण है। उपन्यास की एक वृद्ध पात्र दमयंती अपने बेटों के द्वारा किस कदर परेशान की जाती है। "आरण्या में बहुत परेशान हूँकृ बच्चों की ऐसी हरकतों से मेरा धीरज खत्म हो रहा है। पलैट के कागज की मांग कर रहा था बेटा। डॉक्टर के गयी थी पीछे से बहुत मेरा दीवान उठवा अपने कमरे में रख लिया, मुझे अपने कमरे से निकलने की इजाजत नहीं, मैं ड्राईगरूम में अपने मेहमानों को नहीं बिदा सकती।"¹⁷ हद तो तब होती है जब उपन्यास के ही एक बुर्जुग पात्र प्रभुदयाल की हत्या उसके ही बेटे इसलिए करवा देते हैं कि वह पलैट के पेपर उन्हें नहीं दे रहा था। तो इधर 'काली कथा वाया बाईपास' के किशोर बाबू को उसका ही बेटा पागल सिद्ध करने में लगा रहता है। कुछ ऐसी ही संवेदनहीनता का संकेत पीली आँधी में देखने को मिलता है। राधाबाई के मरने के पश्चात् उसकी बहुएं, मृत शरीर के गहनों को लेकर सबके सामने झगड़ती दिखलाई पड़ती है। एक ओर जहां पिता-पुत्र के रिश्तों में असम्मान का भाव आया है वहीं स्त्री-पुरुषों (पति-पत्नी) के रागात्मक संबंध भी बिखरते नजर आ रहे हैं। आधुनिक चकाचौंध व भौतिक वैभव की लालसा के चलते आज बड़े शहरों में जितने स्त्री-पुरुषों के रागात्मक सम्बन्ध प्रभावित हुए, उतने अन्य नहीं। व्यक्ति अपने स्वार्थ एवं अहम् के आगोश में सब कुछ भूलता जा रहा है। निर्मला सिंह के उपन्यास 'पिघलता हुआ सूरज' में पति-पत्नी के सम्बन्ध इसलिए बिगड़ते हैं कि अब पत्नी भी उसके बराबर कमाने लगी है। 'शुरू शुरू में पापा की कमाई से घर नहीं चलता था। रुपये पैसों की किल्लत रहती थी, मम्मी ने जब से नौकरी

करना शुरू की है पापा परेशान रहते हैं, अब मम्मी काफी व्यस्त रहती हैं तो पापा उन पर शक करते हैं, मम्मी की व्यस्तता और पापा के शक ने घर के सुख और शान्ति को जलाकर राख कर दिया चारों ओर धुँआं उठता है। घर में मेरा अब दम घुटता है"¹⁸ 'पैसों की कमी थी, अमीरी के आवरण में छिपे गरीब मन का ओछापन झेलते-झेलते मैं थक गयी थी, हर चीज के लिए नरेन्द्र से पैसे मांगना और हिसाब देना।'¹⁹ आज महानगरों में आपसी विश्वास दिनोंदिन कम होता जा रहा है। 'एक जमीन अपनी' की अंकिता व सुधांशु इसलिए अलग हो जाते हैं कि दोनों में आपसी विश्वास नहीं। "जीने नहीं दे रही थी सुधांशु की निरंकुश प्रवृत्ति उसने सदैव अपने को थोपने की कोशिश की"²⁰। मुंशी प्रेमचन्द्र ने ठीक ही कहा था कि विश्वास ही वह सीमेंट है जो पति-पत्नी नामक दीवार को चिपकाये रखता है। अब जब दोनों ओर विश्वास ही नहीं तो उनके अपने भावात्मक सम्बन्ध तो बिगड़ेंगे ही। परिणामस्वरूप उनका भावात्मक जुड़ाव अन्यत्र होने लगता है। जो महानगरीय जीवन के पारिवारिक परिदृश्य का कड़वा सच है। 'पीली आँधी' की सोमा हो या 'एक जमीन अपनी' की नीता दोनों ही शादीशुदा पुरुषों से प्रेम करती हैं और यहाँ तक कि उनके बच्चों की माँ भी बनती है। मूल्यहीनता की हद तो, पार तब होती दिखलाई पड़ती है जब 'मुझे चांद चाहिए' की 'वर्षा' व 'एक जमीन अपनी' की 'नीता' बिन ब्याही माँ का भार वहन कर लेती हैं। इतना ही नहीं एक सफल अभिनेत्री बनने के लिए दोनों के लिए शराब व सिगरेट का सेवन करना आम बात है। एक उदाहरण देखिये—हर्ष ने सिगरेट बढ़ायी तो वर्षा ने आतुरता से थाम ली, उसने एक के बाद एक लम्बे कस लेने शुरू किये।²¹ 'राजस्थान पत्रिका' के एक सर्वे में पाया गया कि बड़े शहरों के नामी स्कूल व कॉलेजों की 62 प्रतिशत लड़के व लड़कियाँ खुलेआम सिगरेट पीते हैं, नामी कम्पनियों में कार्यरत लड़कियों का भी ऐसा ही हाल है। इतना ही नहीं उनके द्वारा पहने गये अत्याधुनिक फैशन के कपड़े जो भारतीय संस्कृति की सबसे ज्यादा मजाक उड़ाते दिखलाई पड़ते हैं। 'एक जमीन अपनी' की अंकिता की एक टिप्पणी देखिये—'यह कैसी पौशाके हैं, कपड़े होते हुए भी नग्न-किन जीवन मूल्यों को जीना चाहती हो तुम इन कपड़ों को पहनकर"²²

सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ सं० 124

अंत में मुम्बई के फिल्मि माहौल की चर्चा करना चाहूंगा मृगाल पांडे के "रास्तों पर भटकते हुए लोग" हो या फिर सुरेन्द्र वर्मा का "दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता" में बाजारवादी अर्द्धसंस्कृति के बढ़ने व खुले अपराध व सांस्कृतिक खिलवाड़ का चित्रण है। मनोहर श्याम जोशी का "कुरु कुरु स्वाहा" में भी गिरते नैतिक मूल्यों देहव्यापार व दलालगिरी का खुला अंकन हुआ है जो पाठक समाज को गहरे में सोचने को मजबूर करता है। अन्त में यही कहूंगा कि यह विज्ञान व नवीन चेतना का युग है, हमें मानसिक चेतना को जगाना होगा जिससे हमारा सामाजिक व सांस्कृतिक वातावरण दूषित होने से बच सके। हमें हर वो प्रयास करने चाहिए जिससे हमारी मानवता, हमारे जीवन मूल्य तो जिंदा रहे ही हमें मानसिक शुकून भी मिल सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, (डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ सं० 31)
2. प्रो० परमानन्द श्रीवास्तव, हिन्दी एक समग्र अध्ययन, पृष्ठ सं० 340
3. भीष्म साहनी, बसन्ती, (1980) पृष्ठ सं० 23
4. अलका सरावगी, कली कथा वाया बाईपास, पृष्ठ सं० 4
5. चित्रा मुद्गल, एक जमीन अपनी, (2000) पृष्ठ सं० 199
6. मोहन राकेश, अंधेरे बंद कमरे में, (1961),
7. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ सं० 265
8. ओम प्रकाश, कुछ जिन्दगियाँ बेमतलब की (1968)
9. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, मुरदाघर, (1974), पृष्ठ सं० 45
10. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, (1997) पृष्ठ सं०, 202
11. कृष्णा सोबती, समय सरगम (2000)
12. उषा प्रियंवदा भया कबीर उदास (2007) पृष्ठ सं० 18
13. चित्रा मुद्गल, एक जमीन अपनी, पृष्ठ सं० 25
14. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता,
15. भीष्म साहनी, बसन्ती, पृष्ठ सं० 165
16. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, मुरदाघर, पृष्ठ सं० 142
17. कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृष्ठ सं० 74
18. निर्मला सिंह, पिघलता हुआ सूरज, पृष्ठ सं० 86
19. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता
20. चित्रा मुद्गल, एक जमीन अपनी, पृष्ठ सं० 89
21. सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ सं० 350
22. सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ सं० 124